Research Paper

E-ISSN NO : 2455-295X | IMPACT FACTOR VALUE : 5.983
VOLUME : 11 | ISSUE : 1 | SPECIAL ISSUE JANUARY-2025

हिन्दी सिनेमा और दक्षिण विश्व के देश: साहित्य, समाज और संस्कृति का प्रभाव

डॉ. उमेश कुमार

सह आचार्य (हिन्दी), राजकीय कन्या महाविद्यालय, चौमू, जयपुर (राजस्थान).

ABSTRACT:

सिनेमा के आविष्कार के दौर में इस तकनीकी माध्यम का प्रयोग अनेक उद्देश्यों से प्रेरित था। इससे सामाजिक-सांस्कृतिक द्वंद्वों का प्रादुर्भाव हुआ। इसको सिनेमा ने लगातार प्रकट ही नहीं किया बल्कि इन द्वंद्वों में अपनी ओर से विशिष्ट आयाम भी जोड़े।

फिल्मकारों की व्यावसायिक और सृजनात्मक आकांक्षाओं का द्वंद्व भी सिनेमा को गहराई तक प्रभावित करता रहा है। ये द्वंद्व फिल्मकार में सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान से ही नहीं कलाकार और निष्पादक की पहचान से भी उपजते हैं। बाहरी परिवेश में होने वाले परिवर्तनों के साथ फिल्मकार खुद के द्वंद्व को परदे पर आकार देता है। सिनेमा हमारे मौजूदा दौर के सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ के सभी पहलुओं को अभिव्यक्त करता है। उस पर वर्गीय वैचारिक प्रभाव भी होता है यह सच है कि सिनेमा हमारे समय के सम्पूर्ण सत्य को उजागर नहीं करता है। भारत की अधिकांश जनसंख्या गावों में निवास करती है। आज के दौर में हिंदी सिनेमा में से गांव गायब हो रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद निर्मित कई लोकप्रिय फिल्मों में गांव को कथा के केन्द्र में रखा गया था। दो बीघा जमीन, मदर इंडिया, गंगा जमुना, जिस देश में गंगा बहती है, नया दौर, दो आंखे बारह हाथ, मुझे जीने दो, तीसरी कसम, उपकार, भुवन शोम, उसकी रोटी, दो बूंद पानी, दुश्मन, एक अधूरी कहानी, रेशमा और शेरा, शोले, अंकुर, दुविधा, निशांत, मंथन, आक्रोश, सद्गति, आरोहण, दामुल, पार, गुलामी, मिर्च मसाला, जेनेसिस, दीक्षा, रूदाली, लगान और मांझी: दि माउंटेन मैन जैसी अनेक फिल्मों में ग्रामीण कथा का विषय है।

KEYWORDS:

आविष्कार, समय, व्यावसायिक, सृजनात्मक, परिवेश।

परिचय

हिन्दी फिल्में भारत में बनती हैं इसलिए इसके फिल्मकार और दर्शक सर्वाधिक भारतीय ही हैं। इससे फिल्मों में भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति होती है। लेकिन फिल्मकार भारतीय उपमहाद्वीप को भी यथार्थ में शामिल करने की कोशिश करता है। ऐसा वह प्रत्यक्ष रूप में नहीं करता तो अप्रत्यक्ष रूप में जरूर करता है। यही कारण है कि हिन्दी सिनेमा भारतीय यथार्थ से आगे जहाँ तक हिन्दी की जड़ें फैली हैं वहाँ तक पहुँचने की भरसक कोशिश करता है। यहाँ भारतीय उपमहाद्वीप के यथार्थ का अर्थ भारतीय समाज-संस्कृति है। भारतीय समाज-संस्कृति अनेक तरह की विविधताओं और जटिलताओं से भरी पड़ी है। इसमें भोगोलिक विविधता, भाषाओं की विविधता, धर्मों की विविधता, सांस्कृतिक परम्पराओं की विविधता, वेषभूषा की विविधता, जातीय समुदायों की विविधता और राजनैतिक व्यवस्थाओं की विविधता समाये हुए है। इसमें द्वंद्व होता रहता हैं। यह द्वंद्व परम्परागत कारणों से भी है और आधुनिक समाज निर्माण में आने वाली समस्याओं के कारण भी है। यह द्वंद्व विभिन्न समुदायों के आपसी झगड़े से भी पैदा होते हैं। ये उन बाहरी दबावों से भी पैदा होता है जो भारतीय समाज-संस्कृति में विद्यमान हैं। भारतीय समाज के इसी यथार्थ से उन पटकथाओं का सृजन होता है जो परदे पर लोगों को फिल्म निर्देशक दिखाता हैं। सिनेमा के आविष्कार के दौर में इस तकनीकी माध्यम का प्रयोग अनेक उद्देश्यों से प्रेरित था। इससे सामाजिक-सांस्कृतिक द्वंद्वों का प्रादुर्भाव हुआ। इसको सिनेमा ने लगातार प्रकट ही नहीं किया बल्कि इन द्वंद्वों में अपनी ओर से विशिष्ट आयाम भी जोड़े।

फिल्मकारों की व्यावसायिक और सृजनात्मक आकांक्षाओं का द्वंद्व भी सिनेमा को गहराई तक प्रभावित करता रहा है। ये द्वंद्व फिल्मकार में सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान से ही नहीं कलाकार और निष्पादक की पहचान से भी उपजते हैं। बाहरी परिवेश में होने वाले परिवर्तनों के साथ फिल्मकार खुद के द्वंद्व को परदे पर आकार देता है। सिनेमा हमारे मौजूदा दौर के सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ के सभी पहलुओं को अभिव्यक्त करता है। उस पर वर्गीय वैचारिक प्रभाव भी होता है यह सच है कि सिनेमा हमारे समय के सम्पूर्ण सत्य को उजागर नहीं करता है। भारत की अधिकांश जनसंख्या गावों में निवास करती है। आज के दौर में हिंदी सिनेमा में से गांव गायब हो रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद निर्मित कई लोकप्रिय फिल्मों में गांव को कथा के केन्द्र में रखा गया था। *दो बीघा जमीन, मदर इंडिया, गंगा जमुना, जिस देश में गंगा बहती है, नया दौर, दो आंखे बारह हाथ, मुझे जीने दो, तीसरी कसम, उपकार, भुवन शोम, उसकी रोटी, दो बूंद पानी, दुश्मन, एक अधूरी कहानी, रेशमा और शेरा, शोले, अंकुर, दुविधा, निशांत, मंथन, आक्रोश, सद्गति, आरोहण, दामुल, पार, गुलामी, मिर्च मसाला, जेनेसिस, दीक्षा, रूदाली, लगान और मांझी: दि माउंटेन मैन* जैसी अनेक फिल्मों में ग्रामीण कथा का विषय है। इनमें गांव से शहर आने वाले गरीब किसान हैं, महाजनों के ऋण के बोझ तले दबे और उनके शोषण के विरूद्ध विद्रोह करने वाले किसान हैं, जमींदारों के शोषण के खिलाफ संघर्ष करने वालों के डाकू बन जाने की कथा हैं, नई प्रौद्योगिकी के आने से बेरोजगार होने वाले ग्रामीण हैं, जातीय उत्पीड़न और जातिवादी संघर्ष से जूझते गांव हैं, जमींदारों द्वारा शोषित गरीब लोग और स्त्रियाँ हैं। शोषण और उत्पीड़न के बावजूद आशावादी, ईमानदार, भोले-भाले लोग हैं और उनकी संघर्ष कथाएं हैं।

शेखर कपूर निर्देशित फिल्म *बैंडिट क्वीन* (1994) फूलन देवी के जीवन पर आधारित है। यह गांव में भूमिहीन किसान और दलित स्त्री के जीवन की त्रासदी को अभिव्यक्त करती है। श्याम बेनेगल निर्देशित फिल्म *समर* (1999) में गांवों में होने वाले परिवर्तनों को दिखाया गया है। इसमें सदियों के शोषण से सामना करने के लिए दलितों की एकता लोकतांत्रिक अधिकारों को प्राप्त करने हेतु दिखाई गई है। प्रकाश झा निर्देशित *मृत्युदण्ड* (1998) में गांव के परिवेश में सामंती शोषण के विरूद्ध स्त्रियों के संघर्ष को प्रस्तुत किया है। इस संघर्ष में दलित स्त्री भी है। विनय शुक्ल की फिल्म *गॉड मदर* (1999) में एक पिछड़ी जाति की स्त्री के राजनीतिक सबलीकरण को विषय बनाया है। राजकुमार संतोषी निर्देशित *लज्जा* (2001) फिल्म विभिन्न वर्गों और समाजों में बसने वाली अमीर और गरीब हरेक तरह की स्त्री को पुरूष समाज द्वारा शोषित और लांछित करने की कथा का प्रस्तुतीकरण करती है।

मुट्ठी भर अमीर वर्ग के बाहर विशाल गरीब वर्ग आज भी अपने जीने की जद्दोजहद में जुटा हुआ है। ये गरीब लोग वे हैं जिन्हें हम डेनी बॉयल निर्देशित *स्लमडॉग मिलेनियर* (2008) में असली भारत की पहचान के रूप में देखतें हैं, शहरों की झुग्गियों में देख सकते हैं, गांवों की झोंपड़ियों में देख सकते हैं। अन्य फिल्मों में हम कचरा साफ करते हुए, रिक्शा खींचते हुए, पत्थर तोड़ते हुए, कारखाने में धुआं निगलते हुए, किसी अमीर के घर बाई का काम करते हुए और किसी सस्ते बार में नाचते हुए देख सकते हैं। इनमें दलित हैं, स्त्रियां हैं, अल्पसंख्यक हैं और हरेक जाति और हरेक धर्म के गरीब मजदूर हैं। इनको कभी जाति के नाम पर मार दिया जाता है और कभी धर्म के कारण मौत के घाट उतार दिया जाता है तो कभी इनकी स्त्रियों की इज्जत लूट ली जाती है। कभी इनको आपस में लड़ा दिया जाता है और असली लड़ाई से भटका दिया जाता है। समाज का यह चेहरा फिल्मों में कलात्मक और यथार्थवादी रूप में

चित्रित होता रहता है।

पिछले दो दशकों की हिन्दी फिल्मों में हमारे दौर की सच्चाई का अच्छा और बुरा दोनों तरह का चित्रण इनमें हुआ है। यह सच्चाई केवल शहरों और महानगरों पर ही ज्यादा टिकी है। गौरतलब है कि शहरी और महानगरी जीवन में भी गरीब, मजदूर, स्त्रियों और अल्पसंख्यकों को कथाओं में से किनारा किया गया है। यदि इनको फिल्मों में कभी भूमिका मिलती भी है तो उन फिल्मों में जिनमें हिंसा और उत्पीड़न को कथा का विषय बनाया जाता है। वास्तव का नायक (संजय दत्त) सड़क पर ठेले पर पावभाजी बेचने वाला आम आदमी है। सत्या का नायक (चक्रवर्ती) बंबई (मुंबई) में काम ढूंढता हुआ बेरोजगार युवा है। *गर्दिश* का नायक (जैकी श्रॉफ) पुलिस के मामूली हवलदार का पुत्र है। जिसे इसका इमानदार पिता पुलिस इंस्पेक्टर बनाना चाहता है। *गुलाम* का नायक (आमिर खान) चाल में रहने वाला आम आदमी है जो शांतिमय जीवन जीना चाहता है। *फिजा* और *मिशन कश्मीर* के वे संवेदनशील युवक हैं जो सांप्रदायिक आग के शिकार होकर आतंकवाद की तरफ रूख कर लेते हैं। हिंसा की इस आग में स्त्रियां भी झुलसी हैं। *दामिनी* की घरेलू नौकरानी का सामूहिक बलात्कार किया जाता है और उसका साथ देने वाली निम्नमध्य वर्ग से आई नायिका (मीनाक्षी शेषाद्रि) को पागल बताकर पागलखाने में डाल दिया जाता है। *गॉड मदर* की नायिका (शबाना आजमी) को गोली मार दी जाती है क्योंकि उसने पुरूष सत्ता से सामना करने का साहस दिखाया था। *लज्जा* की स्त्रियां भी पुरूषों की इसी हिंसा का शिकार बनती हैं। इसमें कुल चार स्त्रियों की कहानियां हैं। चारों स्त्री पात्रों का नामकरण सीता के नाम पर होना फिल्म को मिथकीय रूप देता है। वैदेही (मनीषा कोइराला) अपने पति की इच्छाओं के सामने झुकने से मना कर देती है तो उसको अपने ही पति से अपनी जान की रक्षार्थ एक जगह से दूसरी जगह भटकना पड़ता है। मैथिली (महिमा चौधरी) दहेज के दानवों के खिलाफ साहस के साथ खड़ी हो जाती है तो उसका भविष्य अनिश्चित हो जाता है। जानकी (माधुरी दीक्षित) पुरूषों द्वारा निर्मित सामाजिक मर्यादाओं को मानने से मना कर देती है तो उसे अपने गर्भ के बच्चे की मौत देखनी पड़ती है। दलित रामदुलारी (रेखा) गांव में गरीब और दलित स्त्रियों को साक्षर करना चाहती है। उसका बेटा एक उच्च जाति की लड़की से प्यार करता है। इसका बदला रामदुलारी को बलात्कार के बाद जिंदा जलाने के रूप में लिया जाता है। लेकिन फिल्मकार ने आज की स्त्री की सामना करने की शक्ति को दिखाया है।

सवाक् सिनेमा के आरंभिक देश की नितिन बोस निर्देशित *चंडीदास* (1934) से लेकर हाल ही प्रदर्शित अनुभव सिन्हा की *आर्टिकल 15* तक दलित समाज की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में दिखाई देती रही है। लेकिन ग्रामीण समाज में मौजूद जातिवादी समस्याओं को अधिक सूक्ष्मता से यथार्थवादी फिल्मकारों ने दिखाया है। हिंदी सिनेमा में सत्तर के बाद यथार्थवादी फिल्मकारों ने दलित समाज की समस्याओं को भी अपना विषय बनाया। सवाक् सिनेमा के आरम्भ में निर्मित चंडीदास सदियों से चली आ रही ब्राह्मण वर्ग की अतिरूढ़िवादिता एवं मनमानी करने की प्रवृति का विरोध करती है। फ्रैंज ऑस्टन निर्देशित *अछूत कन्या* (1936) में छुआछूत के अमानवीय व्यवहार को बहुत अच्छे से दिखाकर उसकी भर्त्सना की गई है। इसमें नायिका का दलित होना उसके प्रेम में आड़े आ जाता है। बिमल राय निर्देशित *सुजाता* (1959) में भी अछूत कन्या और ऊंची जाति के ब्राह्मण युवा की प्रेमकथा दिखाई गई है। गिरीश कर्नाड की फिल्म *संस्कार* (1970) में दो ब्राह्मणों की कहानी है जो बचपन के सखा हैं। एक ब्राह्मण को निम्न जाति की स्त्री से प्यार हो जाता है और वह उसी के साथ रहने लगता है। कुछ सालों बाद उसकी मौत हो जाती है। उसकी प्रेमिका उसके बचपन के मित्र रहे ब्राह्मण से पूछने जाती है कि उसका दाह-संस्कार किस रीति से किया जाए ? इस समस्या के समाधान के लिए वह कुछ समय चाहता है। इस समस्या के फंसा ब्राह्मण एक पहर बाद नहाने जाता है। वहीं से अछूत विधवा स्नान करके निकली तो उसके शारीरिक सौन्दर्य से वह भी उससे अंतरंगता की कामना त्याग नहीं पाया। इसके बाद वह समाधान करता है कि अंतिम संस्कार ब्राह्मण रीति-रिवाज से होगा। श्याम बेनेगल निर्देशित फिल्म *अंकुर* (1973) में दलित स्त्री की आर्थिक गुलामी का फायदा उठाकर उसका शारीरिक शोषण करने वाले जमींदार की कथा है। इसमें एक बच्चे द्वारा जमींदार के घर पर पत्थर फेंकना उस भविष्य की ओर संकेत है जब दलित इस शोषण का सामना करने का साहस करेंगें। *मंथन* (1976) में सहकारिता का आंदोलन दलित समाज में राजनीतिक जागृति लाता है। इसमें दलितों और गैर दलित गरीबों के बीच शोषण और उत्पीड़न के विरूद्ध राजनीतिक लामबंदी सही राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को भी प्रस्तुत करती है। मृणाल सेन निर्देशित *मृगया* (1976) में शोषण के विरूद्ध आदिवासी समुदाय के संघर्ष की कथा को नायकत्व की गरिमा के साथ दिखाया गया है। सत्यजित राय निर्देशित *सद्गति* (1981) में उच्च जातियों द्वारा बेगारी के माध्यम से दलितों के उत्पीड़न की कथा कही गई है। अरूण कौल निर्देशित *दीक्षा* (1991) में एक ब्राह्मण विधवा युवा स्त्री की भावनाओं और इच्छाओं को देखकर उसके महापंडित पिता के कृत्य और अशिक्षित दलित का विधवा के प्रति सहानुभूति का भाव दिखाया गया है। श्याम बेनेगल की *समर* (1998) फिल्म शहरी आधुनिकतावादी होने की ताल ठोकने वाले लोगों में जातिवाद किस तरह अन्दर तक घुसा हुआ है, उसका बहुत प्रभावशाली प्रस्तुतीकरण करती है। प्रकाश झा की *मृत्युदंड* (1998) फिल्म गांव के परिवेश में सामंती शोषण के विरूद्ध स्त्रियों के संघर्ष को दिखाती है। इस संघर्ष में दलित स्त्री भी सम्मिलित है। विनय शुक्ल निर्देशित *गॉड मदर* (1999) में गांव की एक पिछड़ी जाति की स्त्री के राजनीतिक सबलीकरण को दिखाया है। आशुतोष गोवारीकर निर्देशित *लगान* (2001) में मेहनतकश लोगों की सामूहिक इच्छा शक्ति और संघर्ष क्षमता को अभिव्यक्ति मिली है।

भारतीय उपमहाद्वीप में हिन्दू धर्म के बाद इस्लाम धर्म सर्वाधिक बड़ा धर्म है। धर्माधारित देश के विभाजन के बावजूद इस महाद्वीप के लोगों में व्यापक सांस्कृतिक परम्परा की जो एकता निहित है वह उन्हें परस्पर एक किये हुए है। हिंदी सिनेमा ने हिन्दू-मुसलमान के आपसी संबंधों को आरम्भ से ही अपनी कथा का भाग बनाया है। सोहराब मोदी निर्देशित *पुकार* (1939) में मुगल बादशाह जहांगीर की न्याय प्रणाली को कथा का विषय बनाया गया है। जहांगीर की न्याय प्रणाली इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि विधि के समक्ष सभी समान हैं, चाहे वह राजा हो या रंक। इसमें यह दिखाया गया है कि न्याय-अन्याय के प्रश्न में भी वर्गभेद का सवाल निहित रहता है चाहे शासक कितना ही निष्पक्ष हो। इस प्रकार इसमें मुगलकाल की कहानी के माध्यम से हिंदू और मुसलमान अभिजात के पारस्परिक द्वंद्व को प्रकट करते हुए यह भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है कि इन प्रश्नों को सांप्रदायिक और धार्मिक दृष्टिकोण से देखना उचित नहीं है। महबूब खान निर्देशित *हुमायूं* (1945) में सांप्रदायिक सद्भाव की कहानी प्रस्तुत की गई है। ए.आर. कारदार निर्देशित *शाहजहां* (1946) में भी हिन्दू और मुसलमानों के मध्य सद्भाव और प्रेम की कहानी दिखाई गई है। इस दौर की फिल्मों से यह साफ नजर आता है कि फिल्मकारों ने सक्रियता से हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्रयास किया था। फिल्में लोगों में बहुत लोकप्रिय भी हुई लेकिन वे देश के विभाजन को नहीं रोक पाये।

स्वतंत्रता प्राप्ति और देश के बंटवारे के बाद भी आपसी सौहार्द की ही फिल्में बनती रही हैं। *बैजू बावरा* (1952) में बैजू एक आम लोकगायक है जो अपनी संगीत प्रतिभा से अकबर के दरबारी गायक तानसेन से जीत जाता है। इसमें अभिजात और आमजन का संघर्ष दिखाया गया है। *मुगले आजम* (1960) में नायिका अनारकली एक साधारण दासी है जो बादशाह अकबर को चुनौती देने का साहस दिखाती है। इसमें दिखाया गया है कि मुख्य विरोध हिंदू और मुसलमान के मध्य नहीं बल्कि गरीब, मेहनतकश और अमीर शासक वर्ग के बीच है। यही अन्तर्विरोध पुकार और बैजूबावरा में भी दिखाया गया है। हिंदू समाज में गरीब और अमीर दो वर्ग हैं। उसी तरह मुस्लिम समाज में भी गरीब और अमीर दो वर्ग हैं। लोकप्रिय हिन्दी सिनेमा में अधिकतर अमीर वर्ग की कहानियों को ही विषय बनाया है। *चौदहवीं का चांद* (1960) *बरसात की रात* (1960), *मेरे महबूब* (1963), *बहु बेगम* (1967), *पाकीजा* (1971), *शतरंज के खिलाड़ी* (1977), *उमराव जान* (1981), *खुदा गवाह* (1992), *जुबैदा* (2001) आदि में अमीर वर्ग की कथा है। *दस्तक* (1970), *बाजार* (1982), *मम्मो* (1994) और *हरी-भरी* (2000) आदि में गरीब वर्ग की कथा है। अधिकतर फिल्में ऐसी भी बनी हैं जिनमें कहानी के मुस्लिम पात्र बहुत महत्वपूर्ण हैं। ऐसी कुछ महत्वपूर्ण फिल्में हैं: *चार दिल चार राहें* (1959), *मुझे जीने दो* (1963), *अमर अकबर एंथनी* (1977), *तमस* (1987), *रोजा* (1992), *जख्म* (1999), *गदर* (2001) आदि। इस प्रकार हिंदी सिनेमा ने आरम्भ से ही हिन्दू और मुसलमान दोनों को कथा का भाग बनाकर प्रस्तुत किया है। इन फिल्मों में हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों को उजागर करता रहा है।

हिन्दी सिनेमा का संबंध दक्षिण एशिया के उस भाग से है जिसे भारतीय उपमहाद्वीप के नाम से जाना जाता है। इसको उन निवासियों से जो हिन्दी सुनकर समझ सकते हैं और हिन्दी सिनेमा में रूचि रखते हैं। ऐसे लोग भारत में भी हो सकते हैं और भारत से बाहर जैसे - पाकिस्तान, अफगानिस्तान, बांग्लादेश, श्रीलंका, नेपाल, चीन, अमरीका, कनाडा ब्रिटेन, फिजी, हंगरी और मॉरीशस आदि भी हो सकते हैं। हिन्दी सिनेमा में सामाजिक-सांस्कृतिक वर्गों के सम्बन्धों को किस नजरिये से देखा गया है और उसका भारतीय समाज की गतिशीलता पर क्या प्रभाव पड़ा है। यह दिखाने का इस शोध पत्र में प्रयास हुआ है। हिंदी सिनेमा ने आरम्भ से ही भारत के हरेक क्षेत्र, जाति, समुदाय और धर्म को मानने वाले लोगों की रूचियों को ध्यान में रखकर दर्शकों का मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन किया है। समाज की सभी गतिविधियों को

दर्शाया है। दर्शकों से अनुभूति साझा की हैं। भारतीय समाज के यथार्थ को अभिव्यक्ति दी है। किसान, स्त्री, दलित और धार्मिक अल्पसंख्यक लोगों की समाज और संस्कृति में पहचान को दिखाया है। सामाजिक-सांस्कृतिक ढ़ांचे की गतिशीलता को विविध दृष्टिकोणों से दिखाया है।

REFERENCES

हिंदी पुस्तकें

1. जवरीमल्ल पारख, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, 2006, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्रा.लि. दिल्ली।
2. जवरीमल्ल पारख, लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ, 2001, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
3. राही मासूम रजा, सिनेमा और संस्कृति, 2003, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. विनोद दास, भारतीय सिनेमा और अंतःकरण, 2003, मेधा बुक्स, दिल्ली।
5. सं. मृत्युंजय, सिनेमा के सौ बरस, 2015, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली।
6. सं. गीता श्री, हिन्दी सिनेमा: दुनिया से अलग दुनिया, 2014, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली।
7. जवरीमल्ल पारख, साझा संस्कृति, सांमदायिक आतंकवाद और हिंदी सिनेमा, 2012, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
8. संपा. कमला प्रसाद, स्वयं प्रकाश, राजेन्द्र शर्मा, प्रहलाद अग्रवाल, हिन्दी सिनेमा: बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, 2009, साहित्य भंडार, इलाहाबाद।

फिल्में -

1. *चंडीदास*, 1934, निर्देशक - नितिन बोस
2. *पुकार*, 1939, निर्देशक - सोहराब मोदी
3. *आवारा*, 1951, निर्देशक – राजकपूर
4. *दो बीघा जमीन*, 1953, निर्देशक - बिमल राय
5. *दो आँखे बारह हाथ*, 1957, निर्देशक - व्ही. शांताराम
6. *मदर इंडिया*, 1957, निर्देशक - महबूब खान
7. *मुगल-ए-आजम*, 1960, निर्देशक - के. आसिफ
8. *अंकुर*, 1974, निर्देशक - श्याम बेनेगल
9. *गर्म हवा*, 1974, निर्देशक - एम.एस. सथ्यू
10. *निशांत*, 1975, निर्देशक - श्याम बेनेगल
11. *शतरंज के खिलाड़ी*, 1978, निर्देशक - सत्यजित राय
12. *आक्रोश*, 1980, निर्देशक - गोविन्द निहलानी
13. *सद्गति*, 1981, निर्देशक - सत्यजित राय
14. *दामुल*, 1984, निर्देशक - प्रकाश झा
15. *पार*, 1984, निर्देशक - गौतम घोष
16. *मिर्च मसाला*, 1987, निर्देशक - केतन मेहता
17. *रूदाली*, 1993, निर्देशक - कल्पना लाजमी
18. *बैंडिट क्वीन*, 1994, निर्देशक - शेखर कपूर
19. *समर*, 1999, निर्देशक - श्याम बेनेगल
20. *गॉड मदर*, 1999, निर्देशक - विनय शुक्ला
21. *लगान*, 2001, निर्देशक - आशुतोष गोवारिकर
22. *लज्जा*, 2001, निर्देशक - राज कुमार संतोषी
23. *मांझीः द माउंटेनमैन*, 2015, निर्देशक - केतन मेहता